सामाजिक संरचना की त्रासदियां: खलीलपुर से डरबन तक

नरेश भार्गव

वैसे तो सारी दुनिया की त्रासदियों में एकरूपता है—गैर-बराबरी, शोषण तथा तत्संबंधी सामाजिक अन्याय। पर इस अन्याय के दायरे धीरे-धीरे बढ़ते ही जा रहे हैं। न्याय की गुहार करने वालों की लंबी कतारें तथा हक मांगते लोगों के लंबे जुलूस इस शताब्दी के प्रथम वर्षों के सबसे अधिक गंभीर मुद्दों के साथ जुड़े हुए हैं। यह कहना काफी नहीं है कि दुनिया में गैर-बराबरी अब ढीली पड़ गई है और अवसर की समानता का विकास हुआ है। यह भी कहना काफी नहीं है कि हमने बहुत सी संस्थाएं रच डाली है जो मानव की गैर-बराबरी को कम करने के लिए कटिबद्ध हैं। यह भी कहना काफी नहीं है कि हम एक ऐसा दानखाता खोल चुके हैं जो अन्याय को रोकने के लिए लोगों की सहायता करता है और दान भरोसे हमने विभेदी सहायता प्रारंभ कर दी है और यह भी कहना शायद अजीब होगा कि आइये हमारा संविधान खोलिए—सिवाय सामाजिक न्याय के उसमें है क्या?

इस देश में सामाजिक न्याय के इच्छाधारियों के दो तबके हैं। पहला तबका जिसका संबंध इस देश की गढ़ी गई संस्तरीय व्यवस्था से है। दूसरा तबका जो भारत की गरीबी और भेदभाव की व्यवस्था से जुड़ गया है। कुछ अन्याय उन लोगों के साथ भी जुड़ा है जो दूसरे देशों की तुलना में अधिक शोषित हैं। इस देश में न्याय की गुहार इन दोनों ही तबकों से आती है। इस देश की पचास प्रतिशत से अधिक जनसंख्या अपने आपको अब दलितों में स्वीकार

करती है। वह जनसंख्या मानती है कि समाज में बराबरी के संवैधानिक प्रावधान के होते हुए भी वे भेदभाव तथा अन्याय का शिकार है। नीची जातियों की शिकायत है कि—

सार्वजनिक उपयोग के साधनों जैसे कुआं, बावड़ी, स्कूल, सड़कों तथा न्यायालयों में जाने पर प्रतिबंध है। मंदिरों में प्रवेश वर्जित है क्योंकि उनके द्वारा मंदिर की मूर्ति तथा मंदिर का प्रांगण अशुद्ध हो जाएगा। किसी भी अधिक लाभप्रद व्यवसाय से उनको मुक्ति दे दी जाती है और उन्हें गंदे अशुद्ध कामों को करने के लिए मजबूर किया जाता है।

नई तबके की जीवन शैली अपनाने पर निषेध है। किसी छोटी-सी सुविधा पर जीने का उनको अधिकार नहीं। जीवन शैली का अपनाना उनकी अपनी मृत्यु का कारण भी हो सकता है।

ऊंची जाति की बराबरी की कोशिश की तो लड़ाई लड़नी होगी। उनका दायित्व है कि वे ऊंची जातियों की अधीनता स्वीकारें और उनकी इच्छा के अनुरूप ही काम करें।

कालों को मिले जन्मजात घृणा और भेदभाव की तरह नीची जातियों को मिले भेदभाव ही आखिर उन्हें डरबन खींचकर ले गये हैं।

इस देश में आदिवासियों की बड़ी त्रासदी यही है कि उनका अपनी ही जीवन शैली के स्रोतों पर कोई अधिकार नहीं है। देश के अधिकांश जल स्रोत तथा जंगल आदिवासी क्षेत्रों में है, पर आदिवासियों का उन पर कोई अधिकार नहीं। विकास की बहुत बड़ी कीमत उन्हें ही चुकानी पड़ी है। वे अन्य समाजों की सेवा के लिए बने हैं। भारतीय समाज के सामाजिक जीवन में उनका स्थान अब सीमांत रेखा पर है। नीची जातियों की तरह आदिवासियों को संविधान संरक्षण प्राप्त है, उनके कल्याण के लिए कानून हैं और जीवन उन्नति के लिए अनेक कार्यक्रम। पर अभी भी उनकी पहचान बदली नहीं है। यह महज संयोग नहीं है कि अपनी पहचान के सबसे अधिक आंदोलन आदिवासी क्षेत्रों में ही है। गैर-आदिवासियों द्वारा शोषण और सारे भारतीय समाज में उनका सीमांतीकरण उनके प्रति अन्याय की कई कहानियां कह गया है।

सारी दुनिया की आवाज इस वर्ष महिलाओं के विरुद्ध शोषण की आवाज है। सारी दुनिया में चाहे वह आधुनिक पूंजीवादी समाज हो या धर्मांध विचारधारा वाला समाज—औरत सबसे अधिक पीटी गई है। औरत को संपत्ति के रूप में देखने की दृष्टि एक निरंतरता बन गई है। समाज द्वारा प्रदत्त अधिकारों में यह भेदभाव विचित्र है। समाजशास्त्रियों का ध्यान अब इस बात की ओर जाने लगा है। पीढ़ियों और रूढ़ियों में बंधी औरत अब अन्यायों को अपना सहज जीवन मानने लगी है। समूह द्वारा निर्धारित नियमों के प्रति उसकी प्रतिबद्धता इतनी अधिक है कि यह सहजता ही उसकी मानसिकता बन गई है। औरत को भोग्या समझना, दासत्व की श्रेणी में रख देना और जीवन अवसरों को पुरुषों के समान बंटने से रोकना—सभी कुछ औरत की अपनी त्रासदियों के साथ जुड़ी हुई है। दुनियाभर में पिटती कुटती औरत हर जगह पर फूलन देवी नहीं जो अपने प्रति अत्याचारों का खुद बदला ले ले या मिथक द्रौपदी नहीं है जो पुरुषों को अपने प्रति अन्याय को भरी सभा में चुनौती दे सके। शक्तिवान महिलाएं (पावर वूमेन) जो वैश्वीकरण के लाभ लेने को सबसे आगे है—भी कुछ लाभ ले नहीं पाई है। सामाजिक जीवन को बदलने में उनकी महती भूमिका नहीं। इन बलशाली महिलाओं के अपने हित पुरुषों सरीखे हैं पर निश्चित ही ये महिलाएं आम महिलाओं से अलग है जो सामाजिक परिस्थितियों में बहुत नीचे है।

लेकिन इस देश का एक बड़ा अभिशाप गरीबी है। इसके पीछे कारण है संपत्ति तथा उत्पादन के साधनों का असमान वितरण। हिंदुस्तान में जाति की गैर-बराबरी एक तरफ है और गरीबी अमीरी का बड़ा अंतर दूसरा। जाति की गैर-बराबरी के अपने सामाजिक परिणाम है और वर्गभेद के अपने। नक्सलवाद मात्र मानव अधिकारों का प्रश्न नहीं है। उस शोषण व्यवस्था का है जो जमीन की संपत्ति के असमान वितरण से पैदा हुई है। संपत्ति की व्यवस्था के ये प्रश्न शोषण को पैदा कर गये हैं। राज किसका, कानून किसका और लाठी किसकी। इन सभी का फैसला अब संपत्ति का बंटवारा करता है। मार्क्स से अलग हटकर भी यदि बात की जाए तो भी गैर-बराबरी का कोई भी पक्ष उस उत्पीड़न को कम नहीं कर सकता जो इस वितरण से लोगों को मिला है। वंचना अपने आप में एक सामाजिक अन्याय है और इसी वंचना के परिणामस्वरूप मिलने वाला कष्ट अन्याय का ही प्रतीक है।

सवाल उस बचपन का भी है—जिसे लाखों बच्चे आज खो रहे हैं। फिर से यह सवाल इस देश के उस गरीब वर्ग के साथ जुड़ जाता है, जिसके पास दो जून की रोटी का जुगाड़ बड़ी मुश्किल से होता है। इसी जुगाड़ का एक हिस्सा ये बच्चे बन गये हैं। बचपन एक अनमोल चीज है और लाखों बच्चों का इस उम्र में मां बाप की फिक्र करना, इस देश की बड़ी सामाजिक त्रासदी है। गैर-बराबरी के एक तरफ वे संपन्न और धनाढ्य बच्चे हैं, जिनके बचपन के लिए सब साधन सुलभ हैं, दूसरी ओर वे गरीब बच्चे हैं जो कुपोषण, बीमारी, अशिक्षा तथा भूख के शिकार हैं। यदि उनके दिल से पूछा जाय तो वे भिक्षा नहीं, शिक्षा ही मांगेंगे। ये ही बच्चे आगे चलकर अपराधी हैं, शराबी हैं, मादक द्रव्यों के सेवक हैं और समाज के कंटक हैं। सवाल यह है कि सामाजिक व्यवस्था के इस अन्याय के परिणामों को हम सीधे क्यों नहीं समझना चाहते?

और सवाल मानव अधिकारों का भी है। राज्य स्वयं एक शोषण का हथियार हो जाय तो क्या हो? शायद यह तथ्य राज्य के चरित्र पर भी निर्भर है। किसी तानाशाही शासन में मानव की अस्मिता, चरित्र तथा अधिकारों के प्रश्न बहुत बड़े हैं पर यदि वे ही प्रश्न प्रजातांत्रिक व्यवस्था में उत्पन्न हों तो? राज्य के शोषण और दमन के प्रश्न आज विश्वव्यापी हैं—विशेष रूप से वहां जहां राजनीति माफिया के लोगों द्वारा चलाई जाती है या जहां धार्मिक कट्टरवाद ने अपना जाल फैला दिया है। तालिबान या विश्व हिंदू परिषद ऐसे ही संगठन हैं जिनके राज्य सत्ता के सत्ता संरक्षण मानवीय त्रासदियों को पनपा गये हैं। पुलिस राज की व्यवस्थाएं भी कुछ ऐसे ही प्रश्न उठाती हैं। न्याय का तकाजा है कि वह जनभेद स्थापित न करे, पर न्याय के रिश्ते भी इसी गैर-बराबरी पर आधारित हों—यह बात समझ में नहीं आती।

इसी संदर्भ में इतिहास का पुनर्मूल्यांकन की सही दृष्टि आवश्यक है। इतिहास की घटनाओं का सबक इस पीढ़ी को दिया जाए—बिना वर्तमान पीढ़ी के, बिना किसी कसूर के—तब उस अन्याय की बात बनती है जो समाज की किसी नासमझी का परिणाम है। इस देश में ही नहीं अन्य देशों में ऐसी शक्तियां उठ खड़ी हुई हैं जो इतिहास में पूर्वजों की पीड़ा वर्तमान पीढ़ी से वसूलना चाहती है। इतिहास की नासमझी ने और कुछ हद तक इतिहास की गर्विता ने जो परिस्थितियां उत्पन्न की है उनमें कुछ वर्ग अन्याय की सीमा में आए हैं। धर्म के दर्शन के विपरीत व्यवहारिक प्रक्रियाएं आधुनिक युग में मानव कल्याण के स्थान पर मानवीय त्रासदियां उत्पन्न कर देंगी—शायद यह आधुनिक संदर्भों की ही दृष्टि है।

समाज की गैर-बराबरी के इन आयामों और समाज में विविध समूहों के पारस्परिक संबंधों से दो प्रश्न उठने स्वाभाविक हैं। पहला प्रश्न यही कि एक ठीक समाज है क्या? और दूसरा इन सारी परिस्थितियों में सामाजिक न्याय कैसे परिभाषित हो? जहां तक ठीक समाज या उचित समाज का प्रश्न है—ढेरों आकांक्षाओं और ढेरों स्वप्नों का जाल बिछा हुआ है। राजा के अन्याय पर प्रजा उठती रही है और समाज को सीमाओं और मर्यादाओं को परिभाषित करती रही है। अनेक भारतीय पौराणिक आख्यान उन संवादों से पूर्ण हैं, जिसमें अन्यायों को रोकने के लिए राजा और प्रजा के कर्तव्यों का स्मरण दिलाया गया है। अच्छे मूल्यों और अच्छे मानकों का विश्लेषण बार-बार होता रहा है। जो लोग पीड़ित हैं अथवा दलित हैं—उनकी संपूर्ण समाज के प्रति अपनी ही दृष्टि है—यह माना जाने लगा है। यदि उस विचारधारा को स्वीकार कर लिया जाय कि सारी जाति व्यवस्था एक विचारधारा-शुद्धता तथा अशुद्धता पर टिकी हुई है तो अब दलितों का विचार है कि हम किसी अशुद्धता का प्रसार नहीं करते। यह विचारधारा केवल ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने हमारे दमन के लिए बनाई है। क्या इस प्रकार की विचारधारा के चलते किसी उचित समाज का निर्माण संभव है? ऊंची जातियों के इस आधिपत्य को देश के विभिन्न भागों में अलग-अलग तरीके से रूपांतरित किया गया। जैसे दक्षिण में द्रविड़ आंदोलनों ने इसे उत्तर के साम्राज्यवाद का हस्तक्षेप माना और कहा कि यह सब कुछ तब तक नहीं सुधरेगा, जब तक ब्राह्मणों को जड़ से नहीं हटाया जाता। उनके लिए व्यवस्था से ब्राह्मणों का हटाया जाना ही उचित समाज की स्थापना की शुरुआत थी। मार्क्स ने बहुत पहले वर्गहीन समाज को उचित समाज कहा था। दलित आंदोलन की विचारधारा से जुड़े अंबेडकर ने दो प्रकार की गैर-बराबरियों का उल्लेख किया था। पहला सांस्कृतिक आधार पर थोपी गई गैर-बराबरी और दूसरी आर्थिक गैर-बराबरी। उनकी

लड़ाई अस्पृश्यता से उपजे शोषण के विरुद्ध थी। जाति विहीन समाज तथा धार्मिक पाखंडी रीतियों की समाप्ति, डॉ. अंबेडकर के लिए उचित समाज की पहली शर्त थी। अंबेडकर महात्मा ज्योतिराव फुले से बहुत प्रभावित थे। फुले के प्रश्न ब्राह्मणविहीन समाज के साथ जुड़े हुए थे। बाद में इन दोनों ही द्वारा प्रभावित दलित आंदोलन ने उग्र समतावादी आंदोलन प्रारंभ किया। जातिगत भिन्नता और उससे उपजा शोषण—दलित आंदोलन के लिए प्रहार का विषय था।

समाजवादी आंदोलन की प्रबुद्धता उसके समाज विश्लेषण में भी निहित थी। उनके लिए उचित समाज का आधार समता और समृद्धि में छिपा हुआ है। समता का मतलब है—गैर-बराबरी का अंत। किसी भी प्रकार की गैर-बराबरी तथा उससे उपजा शोषण-समता की परिधि में नहीं आता। आंदोलन यह भी मानता है कि बिना समृद्धि के समता टिक नहीं सकती। समृद्धि की कोई भी गैर-बराबरी समाज को फिर से बांट देगी। अतः उचित समाज की आवश्यकता सभी प्रकार की गैर-बराबरियों की समाप्ति तथा समृद्धि की स्थापना है। सामाजिक न्याय इसीलिए पीड़ितों और शोषितों का विषय है। समाजों की कोई भी कल्पना मानव और व्यवस्था द्वारा मानवों के शोषण की नहीं है। गैर-बराबरी अन्याय है, व्यवस्था से उत्पन्न गरीबी अन्याय है, राज्य द्वारा मानवीय अधिकारों का हनन अन्याय है। ये ही अन्याय सामाजिक न्याय के विचार के केंद्र हैं। उचित समाज के लिए यह आवश्यक है कि कोई भी व्यवस्था किसी भी रूप में अन्याय न कर सके। कोई ऐसी संरचना बने जो सामाजिक न्याय के पैमानों को सही रूप में स्थापित कर सके। मानव अधिकार और सामाजिक न्याय के पारस्परिक संबंध हैं—जिन्हें पहचाने जाने की आवश्यकता है। प्रजातांत्रिक सभी व्यवस्थाएं सामाजिक न्याय का वाहक है और न्याय प्रणाली व्यवस्था स्थापन का साधन। पर सामाजिक न्याय को प्राप्त करने की प्रक्रिया अत्यंत जटिल है। इस पर एक बहस की जरूरत है—विशेष रूप से उचित समाज और उसमें सामाजिक न्याय की स्थापना से संबंधित दृष्टिकोणों पर।
